

# उन्मीलन

संपादक  
यशदेव शल्य - मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक  
अंबिकादत्त शर्मा

मानसिक हिन्द स्वराज का  
वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 19, अंक 1  
जनवरी, 2005





# काश्मीर शैवदर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका

नवजीवन रस्तोगी

कविराज जी की दृष्टि में प्रत्यभिज्ञा न्याय आदि की भाँति एक सम्प्रदाय विशेष नहीं है बल्कि एक विशिष्ट चिन्तन-सरणि है<sup>1</sup> जिसकी आंतरिक संरचना में तमाम अवान्तर सम्प्रदायों और बहुतर अनुभव-भजियों की विनियोजना और व्याख्या संभव है। इस चिन्तन-सरणि की पारिभाषिक तौर पर पहचान उसकी प्रक्रियागत और स्वरूपगत अनुसंधानरूपता से होती है जो इस बात की भी व्याख्या करती है कि अपूर्ण-ज्ञान, जो बहुलता का कारण है, का पर्यवसान पूर्णता में कैसे होता है। कहना न होगा कि प्रस्तावित चर्चा का बीज कविराज जी की इसी दृष्टि में निहित है। आज की चर्चा में हम प्रत्यभिज्ञा दर्शन की इसी आंतरिक संघटना पर विचार करेंगे कि कैसे प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यय के साँचे में ढलकर इसकी चिन्तन-सरणि ठोस रूप ग्रहण करती है।

अपने प्रस्थान ग्रन्थ ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कारिका के आदिश्लोक की<sup>2</sup> व्याख्या करते हुए उत्पल और अभिनव प्रत्यभिज्ञा की, संदर्भ भेद से, चार प्रकार की अवधारणा करते हैं—

1. सम्प्रदाय के रूप में
2. शास्त्र, प्रमाण, या उपाय के रूप में
3. सिद्धान्त, ज्ञान, अवधारणा या व्यापार के रूप में
4. फल, उपेय या पर्यन्त मूल्य के रूप में

हम क्रमशः इन पक्षों पर यहां संक्षिप्त विचार करेंगे।

## सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन नवीं शताब्दी के आचार्य उत्पलदेव नवीन मार्ग (मार्गो नवो)<sup>3</sup> कहकर करते हैं, इस घोषणा के साथ कि यहां प्रतिपादित सिद्धान्त सोमानन्द की शिवदृष्टि के विचारों को आगे बढ़ाते हैं।<sup>4</sup> इस अर्थ में यह काश्मीर शैवमत की अद्वैतवादी धारा का ख्यापक है। तन्त्रालोक की विशिष्ट शब्दावली में प्रत्यभिज्ञा की गणना ‘तंत्र-प्रक्रिया’ में अंतर्भूत चार सम्प्रदायों-त्रिक, क्रम, प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द के रूप में की जाती है।<sup>5</sup> इससे भिन्न ‘कुल-प्रक्रिया’ है जिसके अन्तर्गत पांचवें सम्प्रदाय कुल की गणना होती है। वस्तुतः तन्त्रालोक का सारा उद्यम मूल त्रिक को ‘अनुत्तर त्रिक’, जिसमें कुल प्रक्रिया भी अन्ततः पर्यवसित होती है, के रूप में विकसित करने में है। अनुत्तर त्रिक मूल त्रिक से कहीं अधिक व्यापक है और पूरी काश्मीर शिवाद्वयवादी दृष्टि का समग्र भाव से प्रतिनिधि बनकर सामने आता है।

इतिहास, अवतारक क्रम, गुरु-परम्परा और साहित्य इन चार आधारों पर परस्पर भिन्न होने के बाद भी अपने तान्त्रिक और आगमिक उद्गम के कारण ये सभी सम्प्रदाय सहोदर और सजातीय हैं। तंत्राश्रयी संप्रदायों के प्ररोह की दो दिशाएँ हैं—व्यवस्थित प्रक्रियीकरण और दार्शनिकीकरण। तान्त्रिक शिवाद्वयवाद के विशिष्ट प्रक्रियीकरण या पद्धतीकरण की प्रक्रिया से क्रम, कुल और त्रिक जन्म लेते हैं और तान्त्रिक शिवाद्वयवाद के दार्शनिकीकरण की प्रक्रिया से दो सम्प्रदायों का जन्म होता है—स्पन्द तथा प्रत्यभिज्ञा। तंत्रों पर आश्रित व्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन का क्रम आरम्भ होता है वसुगुप्त के शिवसूत्र से। इसे आधार बनाकर एक ओर स्पन्दकारिका के माध्यम से स्पन्ददर्शन विकसित होता है और दूसरी ओर शिवदृष्टि के माध्यम से प्रत्यभिज्ञा।<sup>6</sup> स्पन्ददर्शन अपने दोनों अवान्तर (शिवप्रधान और शक्तिप्रधान) संस्करणों के द्वारा परमार्थ सत्त्व की अंतरंग गतिमत्वता को केन्द्र में रखता है और पारिभाषिक तौर पर इसे स्पन्द संज्ञा से पुकारता है। स्पन्द की शक्ति या शक्तिचक्र के रूप में भावना करके वह शिवाद्वयवाद की विशिष्ट सन्मीमांसा को विकसित करता है। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय का उन्मेष काश्मीर शिवाद्वयवाद के आधिकारिक प्रमाण-शास्त्र या ज्ञान-मीमांसा के रूप में होता है। यहां सर्वोच्च चिन्मयी सत्ता को प्रकाश और उसकी आन्तरिक क्रियाशीलता को स्वभाव मानते हुए सारी कालान्तरी और ऐतिहासिक सर्जनाओं को परम सत् का विमर्श माना जाता है। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय काश्मीर शिवाद्वयवाद का तर्कदृष्ट्या सबसे पुष्ट दार्शनिक अवान्तर सम्प्रदाय है। यही कारण है कि जयरथ तंत्रालोक की अपनी विवेक टीका में सोमानन्द, उत्पल, लक्षणगुप्त और अभिनव आदि आचार्यों को ‘तर्कस्य कर्त्तरः व्याख्यातारश्च’ कहकर प्रमाण करते हैं।<sup>7</sup> बाद के आचार्य भी युक्तितत्त्वविचक्षणैः के रूप में ही उनका स्मरण करते हैं।<sup>8</sup> प्रत्यभिज्ञा द्वारा इस यौक्तिक कवच के निर्माण और भरपूर प्रयोग का कालान्तर में परिणाम यह हुआ कि माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह तक आते आते यह सम्प्रदाय काश्मीर के अद्वैतवादी दार्शनिक दृष्टि के प्रतिनिधि के रूप में कीर्तित होने लगता है।

इन्हें तर्कस्य कर्त्तरः व्याख्यातारश्च कहे जाने का ऐतिहासिक आधार भी है। वसुगुप्त और कल्लट का संप्रदाय जहां अपना मूल प्रधानतः आध्यात्मिक और रहस्यात्मक अनुभूतियों में पाता है, सोमानन्द और उसके शिष्य उत्पल का मुख्य आधार तार्किक विश्लेषण है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का इतिहास सर्वोत्तमुखी द्वन्द्वात्मक दार्शनिक अंतःक्रिया का इतिहास है, इसका स्पष्ट संकेत अभिनवगुप्त उत्पल के प्रकटितः<sup>9</sup> शब्द की परबादकलङ्कशङ्कापसारणेन नीतः<sup>10</sup> व्याख्या में देते हैं। इस दार्शनिक अंतःक्रिया के दो संदर्भ हैं—आंतरिक और बाह्य। अंतःसंदर्भ में इस संप्रदाय की पहली प्रतिबद्धता रही है वैदिक जीवन-दृष्टि से भिन्न नयी जीवन-दृष्टि विकसित करने के प्रति शैवों के अंदर, जिसका मुख्य प्रतिनिधित्व शैव सिद्धान्त करता था, ‘मार्णो नवो’ कहकर उत्पल इसी आग्रह को प्रकट करते हैं। दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विकास भारतीय दर्शन की मुख्यधारा के व्यापकतर संदर्भ में हुआ है! न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ, न्यायमंजरी के प्रणेता जयन्त भट्ट

जैसे दिग्गज नैयायिक, बौद्ध दर्शन की प्रायः सभी धाराएं, विशेषतः विज्ञानवाद और बौद्धन्याय, जिसकी काश्मीरी धारा के प्रधान मल्ल धर्मोत्तर और रत्नकीर्ति, अद्वैत वेदान्त, मीमांसा, सांख्य और भर्तुहरि का व्याकरण दर्शन, जिसके यशस्वी टीकाकार हेलाराज और पुण्यराज अभिनव के कुछ ही पूर्व हुए थे, इनके साथ चली आलोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं के दौर में यह सम्प्रदाय एक तार्किक ढांचा और स्वतन्त्र विचार-संस्थान विकसित करता है। इसे मोटे तौर पर द्वन्द्वात्मक अंतःक्रिया का बाह्य संदर्भ या स्रोत कहा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा दार्शनिकों की प्रवृत्ति की तीसरी दिशा दर्शनगत मौलिक समस्याओं का समाधान विशुद्ध तान्त्रिक परिप्रेक्ष्य में ढूँढ़ने की उनकी तत्परता में दिखाई पड़ती है : ऐसी तर्क प्रणाली जो तांत्रिक प्रमेयों के आनुभविक आधार से पुष्ट भी हो और उनकी पोषक भी।<sup>11</sup> इन सबसे हटकर प्रत्यभिज्ञा आचार्यों का आग्रह, इसे केन्द्रीय आग्रह कहना चाहिए, ऐसी सर्वाङ्गीण दार्शनिक दृष्टि खोजने में है जो एक ओर तान्त्रिक परम्परा के सभी सम्प्रदायों को ग्राह्य हो, भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की अंतर्धारा से जुड़ी हो और हमारे सांस्कृतिक अनुभवों की जीवन्त व्याख्या कर सके। इसे प्रत्यभिज्ञा का सनातन संदर्भ कहा जा सकता है।

उपर्युक्त चिन्तनात्मक विकास के अभाव में प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय संभवतः एक साधारण संप्रदाय बनकर रह जाता। सोमानन्द उस परम्परा में आते हैं जो काश्मीर में तांत्रिक अद्वैतवादी धारा के आदि पुरुष त्रैयम्बक से प्रारम्भ होती है। उनकी शिवदृष्टि, जिसको उत्पल प्रत्यभिज्ञा का प्रेरक ग्रन्थ तो मानते हैं पर ग्रवर्तक नहीं,<sup>12</sup> से सोमानन्द का तात्कालिक परिदृश्य साफ़ झलकता है। उनका फलक विशुद्ध रूप से शैव फलक है जिसमें वे अपने ही कुटुम्बी शाकर्तों-प्रद्युम्नभट्ट आदि-के शक्ति-पारम्यवाद की आलोचना करते हैं। उनकी प्राथमिकता थी शैव सिद्धान्तियों के द्वारा आगमों की व्याख्याओं में प्रतिष्ठित शिव की सर्वोच्चता को अपने दर्शन में प्रतिष्ठित करना, जहां शक्ति उससे अभिन्न होती हुई भी उससे गौण है।<sup>13</sup> सिद्धान्तियों के तांत्रिकीकरण से दार्शनिकीकरण की ओर उनका यह पहला कदम था। जिस शिव की परिकल्पना उन्होंने की उसकी स्थापना में तो नहीं पर बौद्धों के विरुद्ध ज्ञानों की आत्यन्तिक एकता को बताने के लिए वे प्रत्यभिज्ञा की धारणा का आसूत्रणमात्र करते हैं, पल्लवन नहीं। वेदान्त की तमाम विचारभङ्गियों की समीक्षा द्वारा वे जगत् की शिवरूपता और शिवरूपतया सत्यता की घोषणा करते हैं<sup>14</sup> और सर्वशिवता, समशिवता और एकशिवता की शब्दावली में अपने अद्वैतवादी सिद्धान्त की नींव रखते हैं।

शिव की परिकल्पना शक्तिमान् के रूप में करते हुए उसे चिद्, आहाद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप शक्तिपंचकमय मानते हैं।<sup>15</sup> सत्त्व को वे एक ओर इच्छा, ज्ञान और क्रिया का संगमन मानते हैं<sup>16</sup> तो दूसरी ओर विज्ञानवाद के आलोक में परमार्थ सत्ता को चिद् की अभिव्यक्ति से जुड़ा पाते हैं।<sup>17</sup> चिद्व्यक्ति से सत्ता की यह योगिता आगे चलकर चित् और सत्ता के समीकरण का मार्ग प्रशस्त करती है। बौद्धों के क्षणिकवाद, वेदान्तियों के विवर्तवाद और सांख्य के जड़वाद को नकारते हुए वे वैयाकरणों के पश्यन्ती रूप शब्दब्रह्म

को भी नकारते हैं। वैयाकरणों का यह तिरस्कार उत्पल के द्वन्द्वात्मक चिन्तन में बिल्कुल विरोधी व्यंजनाओं के साथ उभरता है, जैसाकि हम आगे देखेंगे। आपाततः अप्रासंगिक लगने वाला एक उल्लेख यहां आवश्यक होगा। तंत्रालोक के टीकाकार जयरथ सोमानन्द का क्रमदर्शन से गहरा संबंध बताते हैं।<sup>18</sup> प्रत्यभिज्ञादर्शन के स्वरूप-विकास में इसका महत्त्व हम शीघ्र ही देखेंगे।

उत्पल की प्रत्यभिज्ञाकारिकाओं के साथ हम एक क्रान्तिकारी दौर में प्रवेश करते हैं। शैवसिद्धान्त के प्रमातृ-भेद का अद्वैती रूपान्तरण कर और अनुभव और ज्ञान की समग्र प्रकारता में प्रत्यभिज्ञान की अंतर्व्याप्ति का आविष्कार कर उत्पल एक ऐसे अतिक्रामी महाद्वैत का बीजारोपण करते हैं जो अभिनवगुप्त तक आते-आते सर्वहारी पूर्णतावादी दर्शन के रूप में विकसित होता है। यहाँ सोपानीकरण और व्यवस्थितीकरण के माध्यम से सत्ता और अनुभव के किसी भी स्तर का निषेध या अवमूल्यन नहीं होता। वह सत्य की सापेक्षिक और आंशिक अभिव्यक्ति होते हुए भी समष्टि से इस तरह जुड़ा होता है कि प्रत्येक पूर्ववर्ती परवर्ती में अनुस्यूत रहता है और प्रत्येक परवर्ती अपने पूर्ववर्ती में आरोहण का सोपान बनता है।<sup>19</sup> जुड़ाव की यह प्रक्रिया केवल आनुपूर्वी ही नहीं है, वह अपने समान्तर क्षैतिज विस्तार में भी ऐसी रहती है। उत्पल ने कई महत्त्वपूर्ण समीकरण प्रतिपादित किये हैं। सत्ता को विज्ञानात्मक बताते हुए उन्होंने उसे प्रकाश संज्ञा दी और विमर्श को उसका स्वभाव बताते हुए विचार की स्वतन्त्र गतिशीलता को रेखांकित किया।<sup>20</sup> इसी विमर्श को परावाक् की शक्ति-रूपता के आसूत्रण से वह एक<sup>21</sup> और तो सोमानन्द द्वारा किये गए भर्तुहरि के निवासिन को रद्द करते हुए उन्हें वापिस लाये और दूसरी ओर उन्होंने समग्र अस्तित्व को शब्दात्मक घोषित करते हुए बौद्धों के अभिलाप द्वारा सत् की अग्राह्यता और सत् की उद्गृहीत ऐकान्तिकता का निराकरण किया। आभासवाद का प्रतिपादन कर उन्होंने<sup>22</sup> सारे पदार्थों में प्रकाश के सातत्य द्वारा शिवरूपता और उनकी वस्तुता को स्थापित करते हुए सोमानन्द के सर्वशिवता और सर्वसमता को एक तार्किक आधार प्रदान किया और शैवसिद्धान्त से लिये गए छत्तीस तत्त्वों को शिव से और शिव में आभासित माना। प्रत्यभिज्ञा के अद्वैत परक आगमिक स्वरूप को दृढ़ करने के लिए उन्होंने अज्ञान की परिकल्पना आत्मा पर पड़े मल के रूप में की, यद्यपि इस मान्यता का बीज उन्हें शैवसिद्धान्त और आगमों की शैवसिद्धान्ती व्याख्या में पाश के सिद्धान्त में मिला था। उसकी पृथग्यूपता को अस्वीकार करते हुए उन्होंने आत्मा के बोध और स्वातन्त्र्य रूप स्वरूप के संकोच की शब्दावली के मल को प्रस्तुत किया और उसे तिरोधान शक्ति की ही प्रकारता में पर्यवसित माना। उत्पल के दो महत्त्वपूर्ण अवदारों में एक था मालिनीविजयोत्तर तन्त्र से प्राप्त समावेश के प्रत्यय को मोक्ष के प्रत्यय के रूप में विकसित करते हुए प्रत्यभिज्ञा की ही भांति उसकी साधन और साध्य की दृष्टि से उभयमुखी प्रवृत्ति की अवधारणा। अभिनवगुप्त की विवृतिविमर्शिनी<sup>23</sup> में प्राप्त संकेतों के आधार पर उत्पल का दूसरा महत्त्वपूर्ण अवदान था विमर्श की चमत्कार के रूप में प्रस्तुति जो आगे चलकर अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत

सौन्दर्यनुभूति के विश्लेषण की अन्यतम कारण सिद्ध होती है। सौन्दर्यशास्त्रीय शब्दावली में जहां प्रकाश का अपना आस्वादन चमत्कार है, दार्शनिक शब्दावली में वहीं प्रकाश की आत्मविश्रान्ति अहंविमर्श है।<sup>24</sup> काश्मीर शैवदर्शन के विद्वान मार्क डिच्येस्कॉउस्की इस अहंविमर्श को उत्पल का सबसे बड़ा योगदान मानते हैं।<sup>25</sup> उत्पल का सबसे बड़ा योगदान है परम सत् की एकमात्र लोकातिक्रामी किन्तु अंतर्यामी कर्ता और ज्ञाता के रूप में भावना, जो सारी बहुलता को एक सूत्र में पिरोता है और उनका आश्रय बनता है।

अभिनवगुप्त उत्पल की तीसरी पीढ़ी में आते हैं लक्ष्मणगुप्त के माध्यम से। लक्ष्मणगुप्त का योगदान इतना ही है कि उन्होंने अभिनवगुप्त जैसा मेधावी शिष्य भारत की मनीषा को दिया। उत्पल की भाँति अभिनवगुप्त के योगदान को सिद्धान्तों के नामग्रहणपूर्वक परिभाषित नहीं किया जा सकता। ज्ञानचतुष्क या उपायों का सिद्धान्त, बिम्बप्रतिबिम्बवाद की शब्दावली में संसृति-प्रक्रिया और अनुत्तर त्रिक की अवधारणा और तंत्रालोक के रूप में त्रिक-प्रक्रिया और परात्रिंशिकाविवरण के रूप में अनुत्तरत्रिक-प्रक्रिया की रचना उनके अत्यन्त महत्वपूर्ण अवदान हैं। परन्तु इनका संबंध प्रत्यभिज्ञा से इतर या अतिदिष्ट क्षेत्रों से है। प्रत्यभिज्ञा में उनका योगदान प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय का असाधारण विस्तार और गहनीकरण है। उत्पल के संकेतों का लाभ उठाते हुए वे सारे प्रभावस्रोतों का भरपूर दोहन करते हैं और विमर्शिनी और विवृतिविमर्शिनी के रूप में प्रत्यभिज्ञा का मीमांसा-शास्त्र प्रस्तुत करते हैं। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय की सारी अवधारणाओं के मूल में वे प्रत्यभिज्ञानात्मक संरचना का उन्मेषण करते हैं। वे वस्तुतः ‘तर्क के कर्ता’ की भूमिका में प्रतीकात्मकता, चर्चा और अनुष्ठान के आग्रहों से परे हटकर विचार-प्रक्रिया का मिष्कर्षण करते हैं। ज्ञान, भाषा, सामान्य और आनुभविक संरचनाओं की बौद्धिक कोटियों का एक परस्परानुबंधी दार्शनिक योजना के संदर्भ में वे, उन्हें वस्तु सत् से उनके संवाद पर कसते हुए, विश्लेषण करते हैं। इसके साथ ही वे प्रत्यभिज्ञा का एक तर्कशास्त्र विकसित करते हैं जहां पूरा ग्रन्थ एक परार्थानुमान के रूप में विकसित होता है। न्याय दर्शन की प्रक्रिया को वे व्यावहारिक स्तर पर स्वीकार अवश्य करते हैं, पर बौद्धों के द्वारा न्याय-पदार्थों के विखंडन के बाद यह भी जता देते हैं कि न्याय का उद्धार प्रत्यभिज्ञा-सम्मत ईश्वर और प्रत्यभिज्ञान्यी चिन्तन-प्रारूप को स्वीकार करने पर ही संभव है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का द्वन्द्वात्मक चिन्तन अभिनव में अपनी पराकाष्ठा पर है। बौद्ध दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदायों का विखंडन करते हुए वे बौद्ध न्याय से अभिलाप की मौलिक (यद्यपि भ्रान्त) अनुसंधानात्मकता का प्रत्यभिज्ञान की अनुसंधानात्मक संरचना में और संवित् के प्रत्यय को विकसित करने में विज्ञानवाद के चिन्तन-प्रारूप का विनियोग करते हैं। शब्द की वास्तविक अनुसंधानात्मकता उनको भर्तृहरि से प्राप्त होती है और वाक्य-संरचना में कारक और क्रिया की पारस्परिक क्रियाशीलता से वे अपने कर्ता और कारणता के सिद्धान्त को विकसित करते हैं।

सारी आनुभविक स्थितियों में प्रत्यभिज्ञानात्मकता की अनिवार्य आंतरिक विद्यमानता में उनकी दृढ़ीभूत मान्यता उनसे उनका जो सबसे बड़ा योगदान कराती है वह है काव्य तथा

कला के क्षेत्र में इस विचार के अतिदेशन द्वारा एक सर्वाङ्ग सौन्दर्यशास्त्र की संघटना। वस्तुतः वीक्षा की अन्वीक्षा द्वारा ज्ञान में पूर्णता की खोज करते हुए अभिनव प्रत्यभिज्ञा का पूर्णता दर्शन रचते हैं।

अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज के प्रत्यभिज्ञाहृदय में हम प्रत्यभिज्ञा के अंतिम चरण में पहुँचते हैं। सोमानन्द के साथ आगमों की व्याख्या का जो क्रम छूटा था क्षेमराज उस क्रम को फिर से पकड़ते हैं। उनकी अद्वैतवादी व्याख्या की ताकिक परिणति भी इसी प्रत्यभिज्ञाहृदय में दिखाई देती है। प्रत्यभिज्ञा के मूल ढाँचे को अपनाते हुए सारे तत्त्वों और अनुभवों की शक्तिरूपता सिद्ध करते हुए, शिवसूत्र और स्पन्दकारिका के साथ सूत्र-समन्वय करते हुए प्रत्यभिज्ञा के चरम साध्य के रूप में ‘चक्रेशत्व-लाभ’ का प्रतिपादन करते हैं। इसी चक्रेशत्व-लाभ को वे प्रत्यभिज्ञा का हृदय बताते हैं और इसकी व्याख्या प्रत्यभिज्ञेतर किन्तु प्रत्यभिज्ञा के सहोदर सम्प्रदाय क्रमदर्शन के आलोक में करते हैं।<sup>26</sup> दूसरे शब्दों में, प्रत्यभिज्ञा का हृदय ‘क्रम’ है।<sup>27</sup> प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय की चर्चा के प्रारम्भ में हमने सोमानन्द के क्रम दर्शन के साथ जिस संबंध की चर्चा की थी उसकी चरितार्थता यहाँ स्पष्ट होती है। यहाँ यह कहना अवश्य उचित होगा कि अभिनवगुप्त में प्रत्यभिज्ञा का फलक कहीं अधिक व्यापक है और उसका संबंध युक्ति और अनुभव की एक सार्वभौम कसौटी से है। इसी अर्थ में वह एक दार्शनिक चिन्तन-सराणि की मांग पूरी करता है।

इस प्रकार उत्पल और अभिनव द्वारा विकसित प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय दार्शनिक मीमांसा और तान्त्रिक आचार दोनों का ज्ञानात्मक आभ्यन्तरीकरण है। उसके द्वारा अभ्युपगत व्याख्या की मुख्य प्रणाली ज्ञानमीमांसीय है और ज्ञान की प्रक्रिया अनुसंधानात्मक है। शक्ति के द्वारा शित के जागतिक अवभासन के रूपक का उन्नीलन शैव आचार्य शिव के अहं-प्रत्यभिज्ञान या अहं-प्रत्यवर्मण की शब्दावली में करते हैं। भर्तृहरि से प्रेरणा लेते हुए अहंप्रत्यवर्मण को वे शब्दब्रह्म या परा वाक् से समीकृत करते हैं ताकि सृष्टि की शब्दनात्मकता की व्याख्या की जा सके। बौद्ध नैयायिकों के साथ शास्त्रार्थ में शैव आचार्य यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि प्रत्यभिज्ञा सारे व्यवहारों का घटक और आधारभूत तत्त्व है। तान्त्रिक प्रक्रिया के रूप में शिव के आत्म-प्रत्यभिज्ञान की अपरिहार्यता और सार्वत्रिकता के उद्घोष द्वारा शैव दार्शनिक जिज्ञासु शिष्य को इसमें पूरी तरह से भाग लेने के लिए प्रवृत्त करते हैं।<sup>28</sup>

### शास्त्र, उपाय

प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग, अपने दूसरे अर्थ में, शास्त्र या उपाय के वाचक के रूप में हुआ है। विमर्शनी के मंगल श्लोकों में अभिनवगुप्त ने उत्पल की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा को शास्त्र की संज्ञा दी है जो अनुत्तर और अनन्य साक्षी मोक्ष नामक पुरुषार्थ का उपाय है। लक्षणया ये तीनों विशेषण जिज्ञासु अधिकारी और जिज्ञास्य परमतत्त्व के वाची भी हैं,<sup>29</sup> क्योंकि वही सबका साक्षी है जो अनुत्तर से अनन्य अर्थात् अभिन्न है। इस शास्त्र की विशेषता है कि यह सोमानन्द के विज्ञान को प्रतिबिम्बित करता है।<sup>30</sup> त्रैयम्बक की मठिका

में उत्पन्न सोमानन्द से जोड़कर उत्पल<sup>31</sup> तथा अभिनवगुप्त उस शास्त्र की आम्नायिकता और त्रैयम्बक मठिका के परम्परागत रहस्य के प्रतिनिधि शास्त्र के रूप इस ग्रन्थ को चिह्नित करते हैं।<sup>32</sup> उत्पल आदिश्लोक में महेश्वरप्रत्यभिज्ञा के उपपादन की प्रतिज्ञा<sup>33</sup> करते हैं और अंतिम श्लोक में अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति की सूचना देते हैं।<sup>34</sup> शास्त्र ग्रन्थ होते हुए भी इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य यह है कि प्रत्यभिज्ञोपाय के रूप में वह परमेश्वरतात्मयता को जिज्ञासु में संक्रमित करता है।<sup>35</sup> उत्पल का यह ग्रन्थ इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय के प्रस्थान ग्रन्थ अर्थात् प्रवर्तक शास्त्र के रूप में प्रस्तावित है।

पारंपरिक ढंग से शास्त्रों की प्रवृत्ति चार अनुबंधों की चर्चापूर्वक होती है। यहां अभिधेय हैं प्रत्यभिज्ञा-कारिकाएँ, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान की वे साधन हैं। केवल यही नहीं, शास्त्र के अंत में आ रहे मार्गों नवों की भी प्रस्तुति इस अर्थ में हुई है, यह हम देख चुके हैं।<sup>36</sup> प्रयोजन को तीन श्रेणियों में बांटा गया है : प्रत्यभिज्ञोपाय का ज्ञान (पहला), उसका प्रयोजन है वास्तविक प्रत्यभिज्ञान (दूसरा), और उसका भी प्रयोजन है माहेश्वर्य लाभ (तीसरा)। वस्तुतः अंतिम प्रयोजन ही पार्यन्तिक प्रयोजन है और पहले दो प्रयोजनों की भाँति चरम प्रयोजन की अपेक्षा से उपाय श्रेणी में रखा जा सकता है। अधिकारी हैं बंधनग्रस्त मानव मात्र, और संबंध है—गुरुपरम्परासंप्रदायरूप, अर्थात् परम्परा से आगमिक अर्थ का अभिधेय-अभिधायक भाव। यह संबंध दो रूपों में प्रकट होता है। ग्रन्थ के पार्यन्तिक प्रयोजन अर्थात् माहेश्वर्यलाभ से साध्यसाधनभाव का संबंध है और प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय और शास्त्र के मध्य व्युत्पाद्यव्युत्पादकता संबंध है। इस संबंध का उपाय होने के नाते इस शास्त्र का नाम पड़ा है ईश्वरप्रत्यभिज्ञा।<sup>37</sup> यथावसर हम इन सबकी चर्चा करेंगे।

अभिनव की दृष्टि से केवल कारिकाएँ ही प्रत्यभिज्ञाशास्त्र नहीं हैं अपितु उत्पल की वृत्ति<sup>38</sup> और विवृत्ति तीनों को मिलाकर प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के रूप में लेना होगा अन्यथा उत्पल की प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी।<sup>39</sup> उचित होगा कि हम इसमें अभिनवगुप्त की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी और विवृतिविमर्शिनी को जोड़ें। उन्हें क्रमशः लघुविमर्शिनी और ब्रह्मतीविमर्शिनी भी कहा गया है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में इन पांचों को प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में समाहृत किया है।<sup>40</sup> चूंकि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की प्रवृत्ति अधिकारी जिज्ञासु को परमेश्वर, जो कि वह स्वयं है, की प्रत्यभिज्ञा कराने के लिए हुई है इसलिए वह पूरा शास्त्र पंचावयवी अनुमान का रूप ग्रहण कर लेता है। परार्थनुमान की प्रक्रिया में ये बौद्धों के त्र्यवयवी अनुमान की जगह न्याय की पद्धति का आश्रय लेते हैं।<sup>41</sup> आदिश्लोक (कर्थंचिदासाद्य इत्यादि) प्रतिज्ञावाक्य के रूप में प्रत्यभिज्ञायोग्य सभी वस्तुओं को समेटता है, बीच का ग्रन्थ हेतु, उदाहरण और निगमन का निरूपण करता है और अंतिम श्लोक (इति प्रकटितो मया 4.1.16) समस्त प्रतिज्ञातव्य पदार्थ का निगमन करता है।<sup>42</sup> यहां यह देखना महत्वपूर्ण है कि यद्यपि शास्त्र का तात्कालिक प्रवृत्तिनिमित्त (प्रथम प्रयोजन) प्रत्यभिज्ञा का उपाय बताना है पर उसमें मध्य प्रयोजन 'प्रत्यभिज्ञा का ज्ञान' और पैर्यन्त प्रयोजन महेश्वरतालाभ भी मध्यग्रन्थ में समाहित हो जाते हैं। यह बात आती है

प्रतिज्ञावाक्य (आदिश्लोक) के समस्तसंपत्समवासिहेतुं से जो तत्प्रत्यभिज्ञा का विशेषण है, जिस प्रत्यभिज्ञा का हेतु है सारे भाव-अभावरूप बाहरी और आन्तरिक नील और सुख जैसे विषयों का उनके वास्तविक रूप में प्रकाशन और उस प्रकाशन का विमर्श में प्रलङ्घ होना। उसका प्रतिपादन ही मध्यग्रन्थ का प्रयोजन है। दूसरे शब्दों में, जो हमारे दैनन्दिन प्रमाणविषय हैं उनको आत्मरूप महेश्वर से अभिन्न जानना ही पारमार्थिक प्रमाता अर्थात् महेश्वर को जानना है।<sup>43</sup> इसी अर्थ में यह उपाय है।<sup>44</sup> इस प्रकार इस अनुमान का आकार देखने में तो परार्थानुमान का है पर वस्तुतः अतिक्रामी युक्ति के द्वारा शैव अद्वैती दूसरों की मान्य पद्धति के सहरे अपने पारमार्थिक मूल्यों को प्रतिपादित करते हैं।

इस अनुमान की अतिक्रामी संरचना को उत्पल अपने उपोद्घात में पारतात्त्विक संदर्भ में उद्घाटित करते हैं और प्रमाणार्थीमांसा के संदर्भ में फिर से दुहराते हैं।<sup>45</sup> इससे प्रेरणा लेते हुए अभिनवगुप्त तर्क की इस पद्धति का और भी गहरे स्तर पर प्रयोग करते हैं। ‘ज्ञानक्रियाशक्तिमान् आत्मा ही महेश्वर है’ यह प्रागनुभविक सत्य है अतः प्रमाणातीत है। इसलिए अनुमान भी उसका न तो ज्ञापन करता है न सिद्धि, वह केवल उसके संबंध में विस्मृति या मोह या मल के आवरण को हटा देता है। इस अर्थ में परार्थानुमान व्यवहार-साधन भर है पर उससे उसकी अतिक्रामी प्रासंगिकता का अपलाप नहीं होता। परार्थानुमान के मौलिक मानक रूप में साध्य है शक्तिमान् आत्मा, उसका हेतु है शक्ति या शक्तिमत्ता, और शक्ति के द्वारा शक्तिमान् का आविष्करण ही प्रत्यभिज्ञा है। अनुमान का सामान्य आकार है :

प्रतिज्ञा	=	अयमात्मा सर्वविषयज्ञानक्रियाशक्तिमान् महेश्वरः
हेतु	=	ज्ञानक्रियाशक्तियोगात्,
उदाहरण	=	यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावति राजेव,
उपनय	=	तथा चायं आत्मा विश्वत्रय ज्ञाता कर्ता च,
निगमन	=	तस्मात् अयमात्मा सर्वज्ञाता सर्वकर्ता महेश्वरः। <sup>46</sup>

अभिनवगुप्त इस मूल संरचना पर आश्रित अनुमान के अनेक प्रकार परिकल्पित करते हैं।<sup>47</sup> यद्यपि अभ्यास और भावना के बल से जिनमें पारमेश्वर्य धर्म का उद्गम हो गया है उनके लिए व्यवहार-साधन-प्रमाण की उतनी सार्थकता नहीं रहती, पर जिन्हें व्यवहार के साधनों में ही शंका है उनके लिए इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।<sup>48</sup> अभिनवगुप्त यहां पर आत्मज्ञानप्रकर सभी शास्त्रों के संबंध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामान्य टिप्पणी करते हैं—“यावन्ति हि आत्मज्ञानशास्त्राणि श्रुत्यन्तसिद्धान्तरहस्यतंत्ररूपाणि, तानि आत्मनि नैव सिद्धिमपूर्वरूपां रचयन्ति। तस्मात् व्यवहारमात्रसाधनफलानि एव तानीति भावः।”<sup>49</sup> परन्तु मेरे विचार में अभिनवगुप्त का मन्त्रव्य यदि पूरे परिप्रेक्ष्य में लिया जाए तो वह व्यवहारसाधन से परे जाता है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में जो शक्तिरूप हेतु है वह स्वभावहेतु है<sup>50</sup>—अयमात्मा शक्तिमान् शक्तिमत्तात्। ‘हेतु’ की ‘शक्तिरूपता’ से हम आत्मा के अतिक्रामी स्वभाव तक

ही पहुँच जाते हैं। कारण यह है कि स्वभावहेतु एक प्रकार का कल्पित हेतु है जो प्रमाता में संवेद्यभेद के कारण तराशा गया है; उससे आत्मा, उसके ज्ञान और उसके ऐश्वर्य की मौलिक स्वप्रकाशता खंडित नहीं होती।<sup>51</sup> व्यवहार-साधन का अर्थ है मोह को हटाना। पर यह मोहापसारण बौद्धिक व्यायाम नहीं है, हृदयझमन व्यापार है। स्वभाव-हेतु होने के नाते वह ठीक हृदय में जा बैठता है, यही इसका कार्य है।<sup>52</sup> इस अर्थ में प्रत्यभिज्ञा का ज्ञानक्रियाशक्ति<sup>53</sup> स्वरूप ही है शक्ति, जिससे दृढ़निश्चयरूप प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है।<sup>54</sup> प्रत्यभिज्ञा शास्त्र को व्यवहारसाधन परार्थानुमान के रूप में पल्लवित करने के पीछे प्रत्यभिज्ञा के आचार्यों का क्या इतना ही प्रयोजन था या कुछ और? प्रत्यभिज्ञा-आचार्यों के लिए इस ‘व्यवहार’ का एक अन्य अर्थ भी था। अनात्मवादी मतों, विशेष रूप से बौद्धों, के विरुद्ध स्थायी आत्मा की सिद्धि के लिए आत्मवादियों का प्रधान तर्क यह था कि सृति, प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञानप्रक्रियाओं के लिए एक स्थिर आधार की अपेक्षा होती है, अतः आत्मा या धर्मों की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। बौद्धों ने इस तर्क का उपयोग उलटे आत्मवादियों के ही खण्डन में किया। उनकी खण्डनात्मक युक्ति थी:

स्थिर आत्मा (साध्य) नहीं है,

क्योंकि ज्ञान और क्रिया आदि धर्मों को किसी आधार की अपेक्षा नहीं है और अपने में उनका सातत्य एक भ्रांति है (हेतु), उनके मध्य भी कोई संबंध नहीं है, संबंध भी भ्रांति है। (व्याप्ति)।

इसके विरोध में प्रत्यभिज्ञा-आचार्यों ने साधक युक्ति के रूप में प्रत्यभिज्ञा को परार्थानुमान के रूप में विकसित किया। ज्ञान-क्रिया शक्ति या शक्तिमत्त्व (हेतु) के द्वारा शक्तिशक्तिमद्वाव (व्याप्ति) के आधार पर आत्मा (पक्ष) का अभिज्ञान कराया गया।<sup>54</sup> सच पूछा जाए तो बौद्ध दार्शनिकों और प्रत्यभिज्ञा चिन्तकों का यह वैचारिक संघर्ष बहुत सुरीर्थी और सूक्ष्म रहा है जिसकी हमने यहां अत्यन्त स्थूल और संक्षिप्त प्रस्तुति की है। संभवतः इसे ‘पूर्णपरार्थानुमान’<sup>56</sup> कहने के पीछे अभिनवगुप्त का यही संकेत है। व्यवहार<sup>57</sup> का निहितार्थ यह भी है कि हमारे दैनिक प्रयोग के आत्मा शब्द का संकेतार्थ है ईश्वर, जबकि बौद्धों के लिए आत्मा की रोज़मर्झ की धारणा केवल विकल्प मात्र है जिसका कोई धर्मिभूत या ठोस मुख्यार्थ नहीं है। ठीक इसी प्रकार जहां धर्मकीर्ति के लिए ऐक्य या तादात्म्य केवल एक व्यावहारिक धारा (सांकृतत्व) मात्र है जिसका वास्तविकता में कोई आधार नहीं है, उत्पल के लिए विकल्पन, जो वस्तुतः विमर्शन की विधा मात्र है, आत्मा की सहज क्रिया है जिसे एक प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कहा जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञा की शास्त्र और उपाय के रूप में चर्चा के समय यह उचित होगा कि हम तान्त्रिक संदर्भ के अंतर्गत भी प्रत्यभिज्ञा की उपायरूपता पर विचार कर लें। तंत्रालोक में अभिनवगुप्त ने सारी तान्त्रिक दर्शन और उपासना परम्पराओं को चार उपायों (प्रचलित तौर पर ‘उपाय-चतुष्क’ या ‘ज्ञान-चतुष्क’) में वर्गीकृत किया है।<sup>58</sup> वे चार उपाय हैं—अनुपाय,

शांभवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय। इसमें द्वारिद्रारभाव है। प्रत्येक पूर्ववर्ती द्वारी है और परवर्ती द्वार। जागतिक विकल्प या भेदानुभव के दैनिक जीवन से अविकल्प, अनेकता से एकता तक विकल्पचेतना के क्रमिक संस्कार द्वारा पहुँचना उपाय-योजना का लक्ष्य है। पहला एक प्रकार से विकल्पातीत उपाय न होने जैसा है, शाम्भव में अभेद या निर्विकल्प है, शाक्त में भेदाभेद या शुद्ध विकल्प और आणव में भेद या अशुद्ध विकल्प है। तंत्र में हम क्रिया के माध्यम से उसे पाते हैं जिसे दर्शन में ज्ञान से। अंत में अविकल्प स्थिति या स्वरूप-प्रथन की स्थिति में ज्ञान और क्रिया भी समरस हो जाते हैं। दार्शनिक चिन्तन का भी यही प्रवृत्तिनिमित्त है। तन्त्र-प्रक्रिया के अंतर्गत एक संप्रदाय होने के बावजूद भी प्रत्यभिज्ञा आचार्यों का एकमात्र लक्ष्य रहा है सर्वग्राहिणी दर्शन-पद्धति के प्रवर्तन का और योक्तिक ढाँचे की संरचना का। अतः यह देखना आवश्यक होगा कि उपर्युक्त उपाय-परेपाटी में प्रत्यभिज्ञा को किस उपाय से समीकृत किया जा सकता है।

अज्ञान दो प्रकार का है—पौरुष और बौद्ध। ये दोनों अज्ञान एक प्रकार से प्रागनुभविक हैं। वह अज्ञान जिससे हमारा अखंड अस्तित्व परिसीमित हो जाता है और हम समष्टि से व्यष्टीभूत इकाई हो जाते हैं, पौरुष अज्ञान है। इसे ही आणव मल कहते हैं। यही पशुत्व-वासना है। यह हमारे असीम बोधस्वातन्त्र्य का संकुचन है। उसी प्रकार प्रागनुभविक स्वातन्त्र्य-बोध का संकोच बौद्ध अज्ञान मूलक द्वैत विकल्प है जिसके शुद्ध विकल्प या अविकल्प में संस्कार द्वारा सिद्ध बौद्धज्ञान से बौद्ध अज्ञान समाप्त होता है। वही क्षण जीवन्मुक्ति का है। पौरुष ज्ञान से पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर विदेहमुक्ति होती है।<sup>59</sup> बौद्ध अज्ञान के लिए शास्त्र की आवश्यकता पड़ती है।<sup>60</sup> प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की यही प्रासंगिकता है।

प्रत्यभिज्ञा को किस उपाय से जोड़ा जाए इसे लेकर विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है।<sup>61</sup> प्रत्यभिज्ञा कारिका में उत्पल पहले विकल्पक्षय से,<sup>62</sup> और फिर विकल्प-सृष्टि के आत्मधर्मतया ग्रहण<sup>63</sup> से, माहेश्वर्य अर्थात् ‘मैं ही सर्वत्र ज्ञाता और कर्ता हूँ’ इस भाव की प्राप्ति बताते हैं। पहली स्थिति को क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदय में<sup>64</sup> और शिवोपाध्याय विज्ञानभैरव की विवृति<sup>65</sup> में शाम्भवोपाय से जोड़ते हैं। एक निर्विकल्पक स्थिति है तो दूसरी शुद्ध विकल्पों की। इस नाते इसे शाक्तोपाय से जोड़ा जा सकता है। यह ज्ञान हमें जीवनकाल में ही मुक्ति दे देता है। चूंकि शाम्भवोपाय से पहली बार जीवन्मुक्ति का संबंध जोड़ा गया है<sup>66</sup> अतः इस बात को बल मिलता है कि प्रत्यभिज्ञा-प्रतिपादित ज्ञान को शाम्भवोपाय के अंतर्गत रखना चाहिए।<sup>67</sup> परन्तु जहां तत्क्षण जीवन्मुक्ति की बात की गयी हैं वहीं परापरसिद्धि की भी, यह बात भेदाभेदमयी स्थिति के प्रतीक शाक्तोपाय<sup>68</sup> के पक्ष में ले जाती है। सामान्य रूप में भेद और अभेद का समन्वय करने के कारण प्रत्यभिज्ञा को भेदाभेद से जोड़ा जाता है और शाक्तोपाय का भी भेदाभेद या शुद्ध विकल्प से स्वरूपतामक संबंध है। मानसिक चिन्तन शाक्तोपाय का लक्षण है और प्रत्यभिज्ञा का भी। विवृतिविमर्शिनी प्रत्यभिज्ञा को ज्ञानोपाय के रूप में वर्णित करती है। ज्ञानोपाय शाक्तोपाय

का ही एक विरुद्ध है। अतः शाक्तोपाय से प्रत्यभिज्ञा की घनिष्ठता की बात भी युक्तियुक्त लगती है।

परन्तु प्रत्यभिज्ञा के अंतःसाक्ष्य के आधार पर प्रत्यभिज्ञा को अनुपाय के साथ एक कोष्ठक में रखा जाना उचित प्रतीत होता है। अनुपाय का अर्थ एक प्रकार से वह उपाय है जिसमें उपायत्व न हो। यह स्थिति अत्यन्त निर्मल हृदय वाले साधक के लिए है। यहां न कोई विकल्प है न कोई उपाय। केवल एक हल्का सा स्पर्श, एक बार का दृष्टिपात ही तत्क्षण प्रत्यभिज्ञान कराने में समर्थ होता है।<sup>69</sup> अनुपाय में जहां आंतर-बाह्य किसी भी प्रकार के उपाय का निषेध किया गया है<sup>70</sup> वही इसके विशेष स्वभाव का निरूपण अनेक युक्तियों से बौद्ध अज्ञान के नाश और बौद्ध ज्ञान के उदय द्वारा किया गया है<sup>71</sup> विचित्र बात यह है कि अनुपाय का स्रोत ऊर्मिमहाशास्त्र और सोमानन्द में ढूँढ़ा गया है जो प्रत्यभिज्ञा के प्रति प्रतिश्रुत हैं।<sup>72</sup> जयरथ शिवदृष्टि 7.5.6 और 7.100 को उद्धृत करते हैं जहां एक बार शिवत्व का बोध हो जाने पर (सकृत्त्वाते) किसी भी साधन, करण, भावना या उपाय का निषेध किया गया है।<sup>73</sup> शिवदृष्टि की यही पंक्तियां अभिनवगुप्त भी इस तथ्य के अनुमोदन में उद्धृत करते हैं कि प्रत्यभिज्ञा के परामर्श मात्र से जीवनकाल में ही मुक्ति और शिवत्वलाभ हो जाता है।<sup>74</sup> जीवन्मुक्ति को शाम्भव उपाय से ही जोड़ा जाना बहुत बलशाली प्रतीत नहीं होता, क्योंकि बौद्ध ज्ञान मात्र से जीवन्मुक्ति का उदय संभव है यह हमने कुछ ही पूर्व देखा था। स्वयं सोमानन्द भी शिवदृष्टि में सर्वभावग्रहणयोग्यता की उपायों से क्रमशः और निरुपाय से सद्यः प्राप्ति की बात करते हैं।<sup>75</sup>

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा का भी लक्ष्य चूंकि ज्ञान के सभी प्रकारों की एक आंतरिक संरचना को प्रकट करना है अतः सर्वोच्च और मुख्य रूप से उसका स्वर अनुपाय का है और बुद्धि के परिष्कार की अक्रमता और क्रमता से शांभव और शाक्त की विनियोजना होती है। इसी प्रकार आगमाधिकार की अंतिम दो कारिकाओं में<sup>76</sup> आणव उपाय को भी ढूँढ़ा जा सकता है। वस्तुतः अनुपाय एक अर्थ में प्राप्य प्रत्यभिज्ञा-माहेश्वर्यलाभ या विश्वात्मा बोध से एक रूप है। अनुपाय रूप प्रत्यभिज्ञा के संबंध में विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि यहां पौरुष अज्ञान की निवृत्ति के लिए बाह्य अज्ञान की निवृत्ति तो होगी ही, दीक्षा भी इसी से हो जाती है। इसी कारण तत्क्षण जीवन्मुक्ति की संभावना की गयी है।<sup>77</sup> अनुपाय को समझाते हुए कविराज जी कहते हैं—इन सबसे भिन्न, अनुपाय का अर्थ यह है कि ईश्वर की विशेष कृपा से इसमें कभी सन्देह उत्पन्न नहीं होता : वस्तुस्थितियां स्वतः अधिकाधिक स्पष्ट होती चली जाती हैं। उच्च से उच्चतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर सत्य सहज रूप से उद्घाटित होते चले जाते हैं।

अगले अंक में समाप्त्य

## संदर्भ

1. भा. सं. सा., पृ. 1. कविराज जी के प्रत्यभिज्ञा संबंधी विचारों के लिए देखें 'प्रत्यभिज्ञा दर्शनेर भूमिका' अलक्षा, बनारस, 1922, 'काश्मीरीय शैव दर्शन', भा. सं. सा., भा. 1, पृ. 1-22, Gopinath Kaviraj on Kashmir Saivism, नवजीवन रस्तोगी, नवोन्मेष : महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज स्मृतिग्रन्थ, वाराणसी, 1987, पृ. 30-57
2. कथर्थचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं परस्याप्युपकारमिच्छन्। समस्तसंपत्समवासि हेतु तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि॥
3. इति प्रकटितो मया सुघट एवं मार्गो नवो। महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्रे यथा॥—ई.प्र.का. 4.1.16
4. यद्यपि अभिनवगुप्त यहाँ पर मार्ग का अर्थ उपाय करते हैं। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।
5. तं. वि., 1, पृ. 24, 27, 31 और भी देखिए, क्र.ता., पृ. 32
6. यहाँ पर यह टिप्पणी प्रासांगिक होगी कि प्रत्यभिज्ञा आचार्यों ने शिवसूत्र को प्रामाणिक मानते हुए भी उसे आगमान्तर, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा धारा से अवान्तर माना है—देखिए ई. प्र. का. 1.5.12 पर विमर्शिनी की अवतरणिका (आगमान्तरः)। परन्तु जब हम संदर्भ-साकल्य पर विचार करते हैं तो उपर्युक्त निर्णय सहज जान पड़ता है।
7. तं. वि., 2, पृ. 30
8. महानयप्रकाश (त्रिवेन्द्रम) 3.64
9. इति प्रकटितो मया सुघट एव मार्गो नवो। ई. प्र. का. 4.1.16
10. ई.प्र.वि. 1, पृ. 310
11. यत एवं शास्त्रगुरुस्वप्रत्ययसिद्धोऽयमर्थः।—ई. प्र. वि., 1, पृ. 310
12. महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्रे यथा।—ई. प्र. का. 4.1.16
13. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्वितिरेकिणी।—शि. दृ. 3.2
14. शि. दृ., 5.1/5, 5.98/104-110 और भी देखिए, डॉक्ट्रिन, पृ. 103 और आगे।
15. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृत्तचिद्व्यपुः। अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरदृक्क्रियः शिवः।—शि. दृ., 1.2
16. वस्तुता चेत्तथा भूतशक्तिनितयसंगमः॥—शि. दृ. 3.56
17. तस्मादवस्थितं एवं सत्त्वं चिदव्यक्तियोगिता।—वही, 4.29 और भी देखिए वृत्ति, भूमिका, पृ. 15-16
18. श्रीदेवीपंचदाशिकेऽपि अस्य श्रीसोमानन्दभट्टाचार्यः प्रभृति त्रिकदर्शनवदेव गुरवः।—तं. वि., 3, पृ. 194, देखिए क्र. ता., पृ. 128-29
19. प्रसिद्ध दार्शनिक कालिदास भट्टाचार्य ने इस दिशा में बहुत अच्छा कार्य किया है। देखिए Gopinath Kaviraj's Thoughts – Towards a Systematic Study.
20. स्वभावमवभास्य विमर्श विदुरन्यथा। ई. प्र. का. 1.5.11
21. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।—वही, 1.5.13
22. समस्तसंपत्समवासि हेतु तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि।—ई. प्र. का. 1.1.1
23. ननु विमर्शभावात् जडः स्यादिति वक्तव्ये 'चमत्कृतेरभावात्' इति कथं वृत्ति। ई. प्र. वि., 2, भृ. पृ. 177, अप्यस्य स्वच्छतामात्रं न त्वजाङ्गं चमत्कृतेरभावात्। ई. प्र. का. वृ., पृ. 22
24. प्रकाशस्यात्मविश्वान्तिरहंभावो हि कीर्तिः। अ. प्र. सि. 22

25. तुलना कीजिए : अहंमृश्यतयैवास्य सृष्टेः तिह्वाच्यकर्मवत्। ई. प्र. का., 1.5.17
26. देखिए क्र. ता., 1, पृ. 169 और भी दे. Stanzas, पृ. 58
27. 'हृदय' का एक अर्थ शक्तिसूत्र भी किया गया है। यह विचित्र बात है कि जयरथ तंत्रालोक के आदि मंगल श्लोक की वैकल्पिक व्याख्या में ठेठ क्रमदर्शनपरक शब्दावली का प्रयोग करते हैं।
28. देखिए 'The Mythical-Ritual Syntax of Omnipotence' David P. Lawrence, पृ. 1 (अप्रकाशित लेख)
29. अनुत्तरानन्यसाक्षिपुमर्थोपायमध्यधात्। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाख्यं यः शास्त्रं यत्सुनिर्मलम्॥ ई. प्र. वि., मंगलश्लोक 3
30. श्रीत्रैयम्बक्सद्वंशमध्यमुक्तामयस्थितेः। श्री सोमानन्दनाथस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम्॥—वही, पृ. 2
31. महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदुष्टिशास्त्रे यथा। ई. प्र. का., 4.1.16
32. विज्ञानम् इत्यनेन ज्ञानोपदेशमात्रस्य सम्प्रदायागतत्वं सूचितम्। ... रहस्योपदेशस्य संप्रदायापेक्षा वर्तत एव।—भास्करी, 1, पृ. 9
33. कथंचिदासाद्य ... तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि।—ई. प्र. का. 1.1.1
34. ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपादिता॥—वही, 4.1.18
35. ग्रन्थकार ... परमेश्वरतन्मयतां परत्र संचिक्रमयिषु।—ई. प्र. वि., 1, पृ. 17
36. प्रत्यभिज्ञायते अनया इति करणव्युत्पत्त्या उपायः ... 'मार्गो नव' इति शास्त्रान्ते निरूपयिष्यमाणं सूचयता उपायः दर्शितः अभिधेयत्वेन।—वही, पृ. 40-41
37. ई. प्र. वि. वि., 1 पृ. 37, ई. प्र. का. 2.3.17 पर अपनी विवृतिविमर्शिनी में अभिनवगुप्त इस पर गहन विचार करते हैं : क्रिया च करणस्वरूपविवेचनद्वारेरेण वाच्येति प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणस्य शास्त्रस्य अभिधेयम्, लक्षणीयत्वेन इति तत्प्रतिपादनं प्रयोजनं प्रमाणस्वरूपप्रतिपत्तिः, तस्या : फलं व्यापारणम्, तस्य फलं प्रत्यभिज्ञोदयः, ततः पर्यन्तफलम् अपर्यनुयोज्य फलान्तरं पूर्णानन्दानन्तशक्तिपरमेश्वररूपतोन्मेष इति तात्पर्यम्।—ई. प्र. वि. वि., 3, पृ. 173
38. काश्मीर ग्रन्थावली में प्रकाशित वृत्ति अपूर्ण थी। हमारे सौभाग्य से इटैलियन विद्वान् रफेल टोरेला ने बड़े श्रम से पूरी वृत्ति को प्रकाशित कर दिया है। दुर्योग से 5 श्लोकों को छोड़कर विवृति अनुपलब्ध है। परन्तु हम अभिनवगुप्त के क्रणी हैं जिन्होंने अपनी विवृतिविमर्शिनी में उत्पल तक पहुँचने के प्रभूत संकेत छोड़े हैं।
39. सूत्रे स्फुरद्दहया, वृत्तौ स्फुरितसारा, विवृतौ तु व्यक्ता सर्वजनोचरतां गता।—ई. प्र. वि. वि., 1, पृ. 16
40. सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी वृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ। प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः॥—सर्वदर्शनसंग्रह, सं. काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर, पूना, 1951, पृ. 181
41. नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम्।—इति ग्रन्थाकाराभिप्रायः। ई. प्र. वि., 1, पृ. 43
42. एवं प्रत्यभिज्ञातव्यसमस्तवस्तुसंग्रहेन इदं वाक्यमुद्देशरूपं प्रतिज्ञापिण्डात्मकं च, मध्यग्रन्थस्तु हेत्वादिनिरूपकः ... अन्त्यश्लोको निगमनग्रन्थः इत्येवं पञ्चचायवात्मकमिदं शास्त्रं परव्युत्पत्तिकलम्।—वही।

43. बहुक्रीहिणा तु उपायः सूच्यते । समस्तस्य भावाभावरूपस्य बादाभ्यन्तरस्य नीलसुखादेः या सम्पत् संपत्तिः सिद्धिः तथात्वप्रकाशः तस्याः सम्यगवासि विमर्शरूढिः सैव हेतुः यस्यां तत्प्रत्यभिज्ञायाम् तथाहि स्फुटतरभासमाननीलसुखादिप्रमान्वेषणद्वारेणैव पारमार्थिकप्रमातृलाभ इह उपदिश्यते ।—वही, पृ. 34-35
44. किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते । शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्शयते ॥—ई. प्र. का., 1.1.2
45. अप्रवर्तितपूर्वोऽत्रकेवलं मूढतावशात् । शक्तिप्रकाशेनेशादिव्यवहारः प्रवर्त्यते ॥— वही, 2.3.17
46. ई. प्र. वि., 1, पृ. 68 भास्करी भी देखिए।
47. वही, 2, पृ. 144-147
48. यस्य तु व्यवहारसाधने हेतुकलापेऽपि असिद्धताभिमानः, तस्य तत्रापि व्यवहारसाधनैरेव व्यामोहोऽपसार्यः । ई. प्र. वि. वि., पृ. 147-148
49. ई. प्र. वि. वि., 3, पृ. 179 । इस कथन के प्रति टोरेला उत्पल की वृत्ति (2.3.17) पर अपनी टिप्पणी में ध्यान आकर्षित करते हैं । पृ. 174
50. पंचावयवी अनुमान के लिए न्याय के ऋणी होने पर भी हेतु की परिकल्पना में वे बौद्धन्याय को स्वीकार करते हैं ।
51. स्वशक्त्याविष्करणेन निश्चयप्रदर्शनमिति लोके दृष्टम्, इति स्वभावहेतुः । —ई. प्र. वि. वि., 1, पृ. 79, यत एव ज्ञानस्यैव क्रिया पुच्छभूता, ज्ञानं च प्रमातुरपृथग्भूतं संवेद्यभेदात्कल्पितभेदम्, तत एव स्वभावहेतुर्यं वस्तुतः, न कार्यहेतुः । स्वभावहेतुश्च सर्वो मोहवशादरोपितापारमार्थिकरूपान्तरपराकरणमात्रपर्यवसित ... इति वास्तवं स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्य प्रमातुरस्तदैशर्वर्यस्य च मौलिकं न विघटते इति अत्र ग्रन्थकारस्य आशयः ।—वही, पृ. 105-106
52. अतस्तद्व्यवहारमात्रमपि नेह साध्यते अपितु उपांशुच्छन्नं स्थितं सत्, उप समीपे इति हृदयसंगमनेन प्रधानतया दर्शयते ।—वही, पृ. 87
53. वक्ष्यमाणशास्त्रस्य सा प्रत्यभिज्ञैव ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा अर्थोऽभिधेयः ।—वही, पृ. 87
54. मायाव्यामोहाद् अहृदयज्ञमत्वाद् ... दृढनिश्चयरूपं प्रत्यभिज्ञानम् उपदर्शयते । वृत्ति, पृ. 3 अभिनव वृहती-विमर्शिनी में इसे दुहराते हैं : तस्य या प्रत्यभिज्ञा करणभावसाधनत्वेन आविक्षियमाणा शक्तिस्तत्कृतश्च दृढनिश्चयः ।—ई. प्र. वि. वि., 1, पृ. 87
55. विशेष विस्तार के लिए देखिए Argument. पृ. 76 और आगे ।
56. सोऽनेन इच्छादिशक्तिप्रभावप्रख्यापकेन पूर्णपरार्थानुमानरूपेण व्यवहारसाधनेन प्रत्यभिज्ञारब्येन शास्त्रेण अवबोध्यते ।—ई. प्र. वि. वि., 3, पृ. 181
57. 'व्यवहार' शब्द में प्रतिदिन का सत्य और उसका शब्द से अभिधान (व्याहार) दोनों गर्भित होते हैं । टोरेला ने यह प्रदर्शित किया है कि तिब्बती और पालि दोनों भाषाओं में ये दोनों शब्द- 'व्यवहार' और 'व्याहार'—एक ही शब्द से अनूदित होते हैं । वृत्ति, पृ. 174
58. इतिज्ञानचतुर्थं यस्तिद्विमुक्तिमहोदयम् । तन्मया तन्मयते तन्त्रालोकनाम्यत्र शासने ॥— तं. 1.245
59. बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम् । विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता ॥ तं. 1.44

60. वही, 1.47
61. डेविड लारेन्स इसे शाक्तोपाय से, टोरेला शांभवोपाय से जोड़ते हैं। लारेन्स ने मुझे प्रमाणरूप में उद्घृत किया है कि मैं भी इसे शाक्तोपाय से एकरूप मानता हूँ। यह बात अंशतः सही है। वस्तुस्थिति के लिए कृपया आगे देखें।
62. विकल्पहानेनैकाग्र्याद् क्रमेणेश्वरतापदम् । – ई.प्र.का. 4.1.11
63. सर्वो भायं विभवः इत्येवं परिजानतः । विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता । –वही, 4.1.12
64. विकल्पं अर्किच्चिन्नतकत्वेन प्रशमयन् ... 'विकल्पहानेनैकाग्र्यात् क्रमेणेश्वरतापदम्' इति श्री प्रत्यभिज्ञायाम्। अयं च उपायो मूर्धन्यत्वात् प्रत्यभिज्ञायां प्रतिपादितत्वात् आदौ उक्तः । –प्र. ह. 40-41, विज्ञानभैरव 95-96 पर विवृति भी द्रष्टव्य। क्षेमराज का विवेचन मालिनी विजयोत्तर 2.21 की शब्दावली को प्रतिध्वनित करता है। यहां यह देखने की बात है कि क्षेमराज के अनुसार इस बात को लेकर प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द की स्थिति एक है। यदि ऐसा है तो कविराज जी की मान्यता, कि प्रत्यभिज्ञा-स्पन्द का युग्म काश्मीर शैवमत है, को बल मिलता है।
65. तदा तत्क्षणमेव पूर्णतात्मिका जीवन्मुक्तिः । ई. प्र. वि., 1, पृ. 315
66. इत एव प्रभृत्येषा जीवन्मुक्तिर्विचार्यते । यत्र सूत्रणायापीयमुपायोपेयकल्पना ॥ तं. 3.272
67. चृत्ति, भूमिका, पृ. 38
68. प्रत्यभिज्ञायते यथा ... ज्ञानोपायभूतया ... ईश्वरव्यवहारसाधनप्रमाणपद्त्या । ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 16
69. अनुपायं हि यद्यूपं कोऽर्थो देशनयात्र वै। सकृत्स्यादेशना पश्चादनुपायत्वमुच्यते । तं. 2.2
70. अनुत्तरपथे रूढास्तेभ्युपायानियन्त्रिताः । –वही, 2.34
71. गुरोर्वाक्याद्युक्तिप्रचयरचनोन्मार्जनवशात् समाश्वासाच्छास्त्रं प्रति समुदिताद्वापि कथितात् । –वही, 2.49
72. श्रीमद्गुर्महाशास्त्रे सिद्धसन्तानरूपके। इदमुक्तं तथा श्रीमत्सोमानन्दादिदेशिकेः । –वही, 2.48
73. सकृज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणं ब्रजेत्। एकबारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ॥ ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना। करणेन नास्ति कृत्यं कापि भावनयापि वा ॥
74. यथोक्तं परमेष्ठिपादै ... । – ई. प्र. वि., 2, पृ. 311. अभिनव यहां पर श. दृ. 7.82 की भी एक पंक्ति उद्घृत करते हैं।
75. सर्वभावग्रहणतायोग्यत्वाद्वा क्रमस्थितेः । प्रत्यक्षाद्यैरुपायतयाऽपिवा ॥ शि. दृ. 5.103
76. ई. प्र. का. 3.2.19-20
77. तीव्रतम शक्तिपातादौ पुनरनुपायादिक्रमेण दीक्षा भवेत्, येनास्य तत्कालमेवापवर्गः । तदुक्तं 'तत्सम्बन्धात्ततः कश्चित् क्षणाद् अपवृज्यते'





